प्राचीन भारत में धार्मिक संप्रदाय

एवं

सामाजिक-सांस्कृतिक परिवर्तन

एम .फिल. (लघु-शोध प्रबंध)

ज्ञान शांति मैत्री

सत्र : 2013-14

शोध निर्देशक

डॉ० मनोज कुमार राय

(सहा० प्रोफेसर)

शांति अध्ययन विभाग

शोधार्थी

प्रदीप कुमार मिश्र

Reg.no - 2013/03/2010/010 अहिंसा एवं

अहिंसा एवं शांति अध्ययन विभाग

संस्कृति विद्यापीठ

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय

(संसद द्वारा पारित अधिनियम 1997 क्रमांक 3 के अंतर्गत स्थापित केंद्रीय विश्वविद्यालय)

गांधी हिल्स, वर्धा-442001 (महाराष्ट्र)

अनुक्रमणिका

पृ.सं

प्रस्तावना

उद्देश्य

अध्याय – 1

उत्तर वैदिक कालीन सामाजिक और धार्मिक व्यवस्था
13

1.1 ब्राह्मण पुरोहितों का धार्मिक आधिपत्य और कर्मकांडों की प्रधानता 16

अध्याय - 2

धार्मिक सांप्रदायों के उदय के कारण
19

2.1 जटिल वर्णव्यवस्था
20

2.2 तनावपूर्ण सामाजिक जीवन
23

2.3 धार्मिक जीवन के प्रति बढ़ता असंतोष
25

2.4 नवीन धार्मिक विचारधारा का उदय
27

2.5 नई अर्थव्यवस्था का प्रभाव
30

अध्याय – 3

धार्मिक संप्रदायों का स्वरूप
33
3.1 महावीर और जैन धर्म
36
3.2 बौद्ध धर्म
48
अध्याय – 4

धार्मिक संप्रदायों के प्रभाव से सामाजिक-सांस्कृतिक परिवर्तन
63
4.1 बौद्ध धर्म के प्रभाव से तात्कालीन सामाजिक-सांस्कृतिक परिवर्तन 66
4.2 जैन धर्म के प्रभाव से सामाज में परिवर्तन
72
उपसंहार
77
संदर्भ-ग्रंथ सूची
81

प्रस्तावना

प्राचीन भारतीय इतिहास में धर्म का स्वरूप मुख्यतः वैदिक धर्म से था। वैदिक काल की सामाजिक, सांस्कृतिक तथा उनकी सैद्धांतिक अवस्थाओं को जानने के लिए हम वैदिक युग को दो भागों में बाँटकर अध्ययन करेंगे। ये दो भाग हैं - पूर्व वैदिक काल अर्थात ऋग्वैदिक युग तथा उत्तर वैदिक काल। इन संपूर्ण विवेचन का महत्वपूर्ण पहलू यह बताना होगा की विवेच्य काल में महत्वपूर्ण सामाजिक और सांस्कृतिक अवस्था क्या थी? और इन अवस्थाओं से तत्कालीन समाज में परिवर्तन कैसे हुआ॥

ऋग्वैदिक काल जिसका समय ईसा पूर्व लगभग 1500 - 1000 माना जाता है। इस काल के कुछ पुरातात्विक साक्ष्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इस काल के लोग शायद स्थाई जीवन नहीं व्यतीत कर रहे थे। स्वयं ऋग्वेद के अध्ययन से ज्ञात होता है कि आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक और यहाँ तक कि धार्मिक जीवन में भी क़बायली संगठन के चिह्न दृष्टिगोचर होते हैं। ऋग्वैदिक समाज का आधार परिवार था। परिवार पितृसत्तात्मक होता था। जिससे पिता अथवा बड़ा भाई परिवार का स्वामी होता था। ऋग्वेद में ऐसे उल्लेख मिलते हैं जिससे स्पष्ट होता है कि पिता के अधिकार असीमित होते थे।

ऋग्वैदिक समाज प्रारंभ में वर्ग- विभेद से रहित था। सभी व्यक्ति जन के सदस्य समझे जाते थे तथा सबकी समान

सामाजिक प्रतिष्ठा थी। ऋग्वेद में वर्ण शब्द 'रंग' के अर्थ में तथा कहीं-कहीं व्यवसाय चयन के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। आर्यों को गौर वर्ण तथा दासों को कृष्ण वर्ण कहा गया है। प्रारंभ में हम तीन वर्णो का उल्लेख पाते हैं - ब्रह्मण, क्षत्रीय तथा वैश्य। ऋग्वेद के दशवे मंडल के पुरुषसूक्त में हमें सर्वप्रथम शूद्र शब्द मिलता है। यहाँ चारों वर्णो कि उत्पत्ति एक विराट पुरुष के विभिन्न अंगो से बताई गई है। यह कहा गया है कि - जब देवताओं ने विराट पुरुष की बलि दी तो "उसके मुख भाग से ब्राह्मण, भुजाओं से रजन्य (क्षत्रीय), उरु भाग से वैश्य तथा पैरो से शूद्र उत्पन्न हुए।"[1] यह वर्ण व्यवस्था का प्राचीनतम उल्लेख है। परंतु इस समय भी वर्णो में जटिलता नहीं आई थी और वर्ण जन्मजात न होकर व्यवसाय पर आधारित होते थे।

ऋग्वैदिक समाज में विवाह एक पवित्र बंधन माना जाता था। शतपथ ब्राह्मण में पत्नी को पति की अर्धांगिनी कहा गया है। वह पति के साथ यज्ञीय कार्यो में भाग ले सकती थी। पत्नी से रहित व्यक्ति यज्ञ करने का अधिकारी नहीं था। परिवार में एकपत्नीत्व विवाह ही सामान्यतः प्रचलित थे। बाल विवाह एवं विधवा विवाह नहीं होते थे। समाज में सती-प्रथा के प्रचलित होने का उदाहरण नहीं मिलता है।

ऋग्वैदिक आर्यों का सामाजिक जीवन जीतना ही सरल था, धार्मिक जीवन उतना ही विषाद तथा जटिल। यहाँ हमें प्रारंभ में

[1] डी॰ एन॰ झा॰ & के॰ एम॰ श्रीमाली : प्राचीन भारत का इतिहास

बहुदेववाद के दर्शन मिलते हैं। आर्यों के प्रधान देवता प्राकृतिक शक्तियों के प्रतिनिधि है जिनका मनवीकरण किया गया है। ऋग्वैदिक देवताओं का वर्गीकरण तीन भागो में किया गया है -

(1) पृथ्वी के देवता - पृथ्वी, अग्नि, सोम, वृहस्पति तथा नदियो के देवता।

(2) अंतरिक्ष के देवता - इन्द्र, रुद्र, वायु, पर्जन्य, आपः, मतरीशवन आदि।

(3) आकाश के देवता - वरुण, मित्र, सूर्य, पूषन, विष्णु, आदित्य, उषा, आश्विन आदि।

ऋग्वैदिक आर्यों ने अपने देवताओं की कल्पना मनुष्य के रूप में किया तथा उनमें समस्त मानवोचित गुणो को आरोपित कर दिया। देवता तथा मनुष्य में अन्तर यह था कि देवता अमर माने जाते थे जबकि मनुष्य मर्त्य था। देवोपासना मुख्यतः भौतिक कल्याण जैसे - युद्ध में विजय, अच्छी खेती, संतान-प्राप्ति आदि के लिए की जाती थी। उपासना का लक्ष्य परमार्थिक सुख नहीं था।

ऋग्वैदिक संस्कृति के पृष्ठभूमि पर ही उत्तरवैदिककालीन संस्कृति का विकास हुआ। इस काल का इतिहास हमें ऋग्वेद के आधार पर ही विकसित संहिता ग्रंथ, ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषदों से ज्ञात होता है कि जिनका समय लगभग ईसा पूर्व 1000-600 तक माना जाता है। संहिताओं में सामवेद, अथर्ववेद तथा यजुर्वेद के नाम उल्लेखनीय है। संहिताओं के बाद ब्राह्मण,

अरण्यक तथा उपनिषदों का विकास होता है। ब्राह्मण गद्य साहित्य से सर्वप्रचीन ग्रंथ है जिनमें कर्मकांडों के महत्व का अनेक गाथाओं द्वारा स्पष्ट करने की चेष्टा की गई है। ब्राह्मण ग्रंथों की रचना संहिताओं की व्याख्या करने के लिए सरल गद्य में की गई है। ब्राम्हणों के अंतिम भाग अरण्यक है जिनमें दार्शनिक एवं रहस्यात्मक विषयो का वर्णन किया गया है। संभवतः इनके अध्ययन के लिए अरण्य (जंगल) जैसे एकांत स्थानों की आवश्यकता होती थी इसी कारण इन्हें आरण्यक कहा गया है। आरण्यकों में ऐतरेय, कौषीताकि तथा तैत्तिरीय प्रमुख है। आरण्यकों के बाद ग्रंथ उपनिषद है जिसकी भाषा लौकिक संस्कृति से मिलती जुलती है। उपनिषदों में हम वैदिक चिंतन का चरम विकास पाते हैं। इसी कारण इन्हें वेदान्त भी कहा गया है। इनका प्रमुख विषय आत्मविद्या से है। इन ग्रंथों की रचना गंगा घाटी में हुई थी।

ऋग्वैदिक काल के समान इस समय भी संयुक्त परिवार की प्रथा थी जो पितृसत्तात्मक ही होते थे। पिता के अधिकार विस्तृत एवं उसकी शक्ति असीमित थी। वह अपने पुत्रो को बेच सकने, गृह निकाला करने आदि विषयो में स्वतंत्र अधिकार रखता था। ऐतरेय ब्राह्मण से पता चलता है की आजीगर्त ने अपने पुत्र शूनःशेप को 100 गायें लेकर बलि के निमित्त बेच दिया था। इसी प्रकार विश्वामित्र ने अपने पुत्र को आज्ञा न मनाने के अपराध में घर से निकाल दिया था। किंतु इस प्रकार के निर्णय विशेष

परिस्थितियों में लिए जाते थे। सामान्यतः पिता का पुत्र एवं अन्य पारिवारिक सदस्यो के साथ संबंध मृदुतापूर्ण था। वर्णो में क्रमशः कठोरता आने लगी थी और अब वे जाति के रूप में परिणित होने लगी थी। व्यवसाय परिवर्तन कठिन हो गया था। धार्मिक और सामाजिक क्षेत्र में चारों वर्णो (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) के कर्तव्यों, अधिकरो और स्थिति में विभेद किया जाने लगा। ऐतरेय ब्राह्मण में चारों वर्णो के कर्तव्यों का वर्णन मिलता है। ब्राम्हणों को दान लेने वाला (आदायी), सोमपायी, कार्यशील तथा इच्छानुसार भ्रमण करने वाला (यथाकाम प्रयाप्य) कहा गया है। कुछ उल्लेखों में ब्राह्मण को राजा से भी बड़ा बताया गया है। शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि राजा अपनी शक्ति ब्राह्मण से ही प्राप्त करता है। क्षत्रिय या राजा भूमि के स्वामी होते थे। वे देश कि रक्षा के लिए युद्ध करते तथा प्रजा से कर लेते थे। ऐसा लगता है कि इस समय ब्राम्हणों तथा क्षत्रियों में सामाजिक प्रतिष्ठा के लिए प्रतिस्पर्धा प्रारंभ हो गई थी। शतपथ ब्राह्मण एक दूसरे स्थान पर क्षत्रिय को ब्राह्मण कि अपेक्षा श्रेष्ठ बताता है। इस काल के कुछ क्षत्रिय शासक अपने ज्ञान के लिए विख्यात थे तथा वे ब्राम्हणों के भी शिक्षक थे। वैश्य दूसरो को कर देते थे (अन्यस्यवलीकृत) तथा कृषि व्यापार और उद्योग धंधे में लगे रहते थे। शूद्र को तीनों वर्णो का सेवक (अनस्य प्रेष्यह) कहा गया है। लोग उसे मनमाने ढ़ंग से उखाड़ फेकते थे (कमोथाप्यह) और इछानुसार उसका वध कर सकते थे (यथाकाकवाध्याह)। शतपथ ब्राह्मण में भी शूद्र कि हीन

स्थिति का वर्णन हुआ है तथा बताया गया है कि शूद्र अभिषिक्त पुरुष द्वारा संबोधन योग्य नहीं होता है।

यही वह समय काल है जिसमें महाजनपदों का उदय हुआ, जिससे तत्कालीन सामाजिक,आर्थिक, राजनैतिक जीवन में बदलाव आया तो दूसरी तरफ धार्मिक क्षेत्र में उल्लेखनीय क्रांति हुई। उत्तर वैदिक कालीन व्यवस्था स्पष्टतः चार वर्णो में विभाजित था- ब्राह्मण,क्षत्रीय,वैश्य और शूद्र। हर वर्ण के अलग-अलग कर्तव्य थे, जो जन्म पर आधारित थे। ब्राह्मण और क्षत्रीय को कुछ विशेषाधिकर प्राप्त थे। वर्ण व्यवस्था में ब्राह्मण को सर्वोच्च स्थान प्राप्त था, जिन्हे पुरोहितों और शिक्षकों का कर्तव्य सौपा गया था। इन्हें कई विशेषाधिकार प्राप्त थे, जैसे- दान लेना, करो से छुटकारा, दंडो की माफी आदि। उत्तर वैदिक ग्रंथों में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं, जहां ब्राम्हणों ने ऐसे अधिकारो का लाभ उठाया। वर्णक्रम में क्षत्रीय का स्थान दूसरा था। इनका कर्तव्य युद्ध करना, शासन करना और किसानो से उगाहे करो पर जीते थे। वैश्य कृषि, पशुपालन और व्यापार करते थे। और ये ही मुख्य करदाता थे। यद्यपि इन्हें दो उच्च वर्णो के साथ द्विज नमक समूह में स्थान मिला हुआ था। द्विज को जनेऊ पहनने, वेद पढ़ने का अधिकार था, पर शूद्र और स्त्रियों को इससे वंचित रखा गया था। वर्णव्यस्था में जो जीतने उचे वर्ण का होता था, उसे उतना ही शुद्ध और सुविधाधिकारी समझा जाता था। अपराधी जीतने ही नीचे वर्ण का होता था, उसके लिए सजा उतनी ही कठोर होती थी।

यह स्वाभाविक ही था कि इस तरह के वर्ण विभाजन वाले समाज में तनाव पैदा हो। इन्ही सामाजिक तनाव के फलस्वरूप अनेक नए धार्मिक संप्रदायों का उद्भव हुआ। जिससे तत्कालीन सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और धार्मिक परिवर्तन हुए। कुछ मुख्य धार्मिक संप्रदाय जैसे पुरंकश्यप का "अक्रियावादी", इसी से सांख्यवाद का विकास हुआ। मख्खलिगोसाल ने 'आजीवक संप्रदाय' (अक्रियावाद तथा नियतिवाद) कि स्थापना कि। अजित केशकमबली 'भौतिकवादी' (यदृक्षवादी) था, इसी से 'लोकायत' या 'चरवाक' के दर्शन का विकास हुआ।[2] सजय वेलात्तीपुत्त 'अनिश्चयवादी' था। पाकुध कच्चायन पुनर्जन्म तथा कर्म को नहीं मानता था। वह एक प्रकार से भौतिकवादी था। इन धार्मिक संप्रदायों में मुख्य रूप से बौध और जैन धर्म थे, जो सामाजिक, राजनैतिक और धार्मिक क्षेत्र को अत्यधिक प्रभावित किया जिससे सामाजिक व्यवस्था में अनेक परिवर्तन हुए। बौध धर्म ने स्त्रियों और शूद्रो के लिए द्वार खोलकर समाज पर गहरा प्रभाव जमाया। ब्राह्मण धर्म में शूद्रो और स्त्रियों को एक ही दर्जे में रखा, और उनके लिए न ही जनेऊ धरण करने का विधान किया और ना ही वे वेदो का अध्ययन कर सकते थे। बौध धर्म ने इन सामाजिक संकीर्ण विचारों से लोगों को मुक्ति दिलाई। बौध और जैन धर्मो में अहिंसा के उपदेश और जीवमात्र के प्रति दया कि भावना जगाकर पशुधन` में वृद्धि कि। जबकि ब्राह्मण धर्मो में

[2] कामेश्वर प्रसाद : भारत का इतिहास , पृष्ठ संख्या 127

पशुबलि के कारण पशुधन कि हानि हो रही थी। उत्तरोत्तर ब्राह्मण धर्म में गाय कि पूज्यनीयता और अहिंसा पर ज़ोर पड़ने का कारण स्पष्टतः बौध और जैन धर्मो के उपदेशो का प्रभाव था।

शोध-प्रविधि :-

हम अपने शोध प्रबंध में ऐतिहासिक शोध प्रबंध का प्रयोग करेंगे। ऐतिहासिक शोध प्रविधि के अंतर्गत हम अपने शोध प्रबंध शीर्षक के अनुसार प्राचीन इतिहास के ऐतिहासिक साहित्यिक स्रोत, पुरातात्विक स्रोत तथा ताम्रपत्रों और पांडुलिपियों का अध्ययन, विश्लेषण तथा उसकी व्याख्या करके अपने शोध प्रबंध में समाहित करेंगे जिससे शोध प्रबंध की सत्यता और प्रमाणिकता परिलक्षित हो सके।

उद्देश्य :-

प्राचीन भारतीय इतिहास में धार्मिक संप्रदायों के उद्भव से पहले, अर्थात उत्तर वैदिक कालीन सामाजिक व्यवस्था, वर्ण व्यवस्था पर आधारित था। जिससे समाज में भेद-भाव और संकीर्णता व्याप्त थी। ब्राह्मण और क्षत्रीय दो उच्च वर्णो कि श्रेष्ठता ने वर्ण व्यवस्था को और अधिक कठोर बना दिया था। यज्ञ का अनुष्ठान अत्यधिक बढ़ गया था, जिससे ब्राम्हणों कि शक्ति में अपार वृद्धि हुई। यज्ञों में बली देने कि प्रथा प्रचलित थी, जिससे पशुधन कि हानि से आर्थिक व्यवस्था कि भी क्षति थी। इस युग में केवल वैश्य ही राजस्व चुकाते थे। ब्राह्मण और क्षत्रीय दोनों वैश्यो से वसूले राजश्व पर जीते थे। ऊपर के तीन वर्णो (ब्राह्मण, क्षत्रीय और वैश्य) कि सामान्य विशेषता यह थी कि वे उपनयन संस्कार के अधिकारी थे अर्थात वे वैदिक मंत्रो के साथ जनेऊ धरण का अनुष्ठान करा सकते थे। चौथा वर्ण उपनयन संस्कार का अधिकारी नहीं था। वह गायत्री मंत्र का उच्चारण नहीं कर सकता था और यहाँ से उपनयन का आभाव शूद्र कि दासता का द्योतक बन गया। ऐतरेय ब्राह्मण नमक वैदिक ग्रंथ में कहा गया है कि “ब्राह्मण जीविका चाहने वाला और दान देने वाला है, लेकिन राजा जब भी चाहे उसे हटा सकता है, वैश्य के बारे में कहा गया है कि वह राजस्व का देनदार है और राजा जब चाहे दमन कर सकता है। सबसे बुरी स्थिति शूद्रो कि थी। शूद्र को अन्य वर्णो का सेवक बतलाया गया है। वह दूसरो कि इच्छा अनुसार काम करने वाला है

और मार खाने वाला है।" शुद लेने और देने दोनों को अच्छा नहीं माना जाता था, जो कि वैश्य और व्यापारिक वर्ग के हित में नहीं था।

ऐसे जटिल सामाजिक व्यवस्था से समाज में व्याप्त भेद-भाव से तनाव व्याप्त होना स्वाभाविक था। जिसके परिणामस्वरूप अनेक नए धार्मिक विचारों का प्रादुर्भाव हुआ। और ये नए धार्मिक संप्रदाय समाज में व्याप्त कुप्रथाओं और जटिल सामाजिक व्यवस्था पर कठोर आघात करते हैं। हम अपने इस लघु शोध प्रबंध में इन्ही धार्मिक संप्रदायों के विचारों से समाज में पहले से चली आ रही व्यवस्था में कैसे परिवर्तन हुआ उसका उल्लेख करेंगे।

उपसंहार

प्राचीन भारतीय इतिहास में धार्मिक आंदोलन से पूर्व जिस प्रकार सामाजिक कुरीतियां और आडंबरपूर्ण धार्मिक व्यवस्था विद्यमान थी, उससे सामाजिक तनाव व्याप्त होना स्वाभाविक ही है। धार्मिक व्यवस्था में ब्राम्हणों ने जिस प्रकार एकाधिकार प्राप्त कर लिया था, उससे अन्य वर्णो का, ब्राम्हणों के प्रति आक्रोश या धार्मिक व्यवस्था के प्रति असंतोष भी स्वाभाविक ही था। विष्णु धर्मसूत्र में एक स्थान पर कहा गया है कि "दस साल का ब्राह्मण भी सौ साल के क्षत्रीय कि अपेक्षा श्रेष्ठ है तथा उसे क्षत्रीय का पिता मानना चाहिए। ब्राह्मण अन्य वर्णो का पिता होने के कारण करो तथा दंडो से मुक्त समझा गया।" गौतम धर्मसूत्र में कहा गया है कि राजा को चाहिए कि वह पुरोहित ब्राह्मण को निम्नलिखित छः दंडो से मुक्त रखे-

1. शारीरिक यातना,
2. कारावास,
3. अर्थदंड अथवा जुर्माना,
4. देश निष्कासन,
5. अपमानित किया जाना और
6. मृत्युदंड।

बौद्ध तथा जैन ग्रंथों में जन्मजात सामाजिक श्रेष्ठता के विचार का खंडन किया गया है। ये ग्रंथ कर्म के आधार पर ही सामाजिक मान्यता को स्वीकार करते हैं न कि जन्म के आधार पर। स्वयं महात्मा बुद्ध ने कई बार इस बात पर बल देकर कहा कि मनुष्य अपने गुण तथा कर्म के आधार पर ही श्रेष्ठ अथवा निम्न होता है, जन्म के आधार पर नहीं।

इस प्रकार जन्म के आधार पर श्रेष्ठता तथा सामाजिक भेद-भाव तथा अन्य धार्मिक कुरीतियों के विरोध में इन धर्मो ने आंदोलन चलाया और समाज तथा धर्म के प्रति क्रांति ला दी। अनेक धार्मिक आडंबरो को मानने से इनकार कर दिये, तथा सामाजिक और धार्मिक रूप से कुपित लोगों को अपने धर्म में समाहित करने लगे, जिससे वैदिक धर्म के प्रति रूचि कम होने लगी। फलस्वरूप वैदिक धर्म में भी परिवर्तन और लचीलापन कि आवश्यकता महसूस कि जाने लगी और बाद में इसी के परिणामस्वरूप भागवत संप्रदाय और शैव संप्रदाय का उद्भव हुआ।

ईसा पूर्व छठी शताब्दी में उत्तर भारत की मध्य गंगा घाटी क्षेत्र में अनेक धार्मिक संपदायों का उदय हुआ। अनेक मत तथा दर्शनों के प्रादुर्भाव ने बौद्धिक आंदोलन का रूप ग्रहण किया। विभिन्न मतों को मनाने वाले सन्यासी (परिव्राजक) घूम-घूम कर अपने जीवन दर्शन का जनसमुदाय में प्रचार तथा एकदूसरे के दर्शन का खंडन भी करते थे। इस बौद्धिक गतिविधि का केंद्र मगध था। यह आकस्मिक नहीं है कि यंहा इस काल में

एक ओंर विशाल साम्राज्य कि नींव पड़ रही थी और दूसरी ओंर धार्मिक-बौद्धिक आंदोलन पुरातन जीवन दर्शन के विरोध में चल रहे थे। यह भी कम महत्वपूर्ण बात नहीं है कि एक प्रकार के बौद्धिक आंदोलन के प्रमाण अन्य देशों में भी मिलते हैं। चीन, ईरान तथा यूनान में पुरातन मान्यताओं कि चुनौती देने वाले क्रमशः कन्फ़्यूशियस, जरथूष्ट तथा पाइथागोरस थे।

भारत में इस आंदोलन के अनेक प्रत्यक्ष तथा परोक्ष कारण थे, जो तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक परिवर्तनों में निहित थे। इन परिवर्तनों से प्राचीन वैदिक परंपरा की धार्मिक तथा सामाजिक मान्यताएं तथा जीवन प्रणाली के अनेक तत्व केवल रूढ़ि बनकर रह गए, जो सामाजिक विकास में बाधक सिद्ध होने लगे। ईसा पूर्व छठी शताब्दी में प्रचलित विभिन्न संप्रदायों में से आगे चलकर केवल जैन तथा बौद्ध धर्म ही अधिक प्रसिद्ध हुए इन धार्मिक संप्रदायों ने पुरातन वैदिक-ब्राह्मण धर्म के अनेक दोषों पर प्रहार किया। इसलिए इन धर्मो को सुधारवादी आंदोलन भी कहा गया है, जिसका वर्णन उपर्युक्त वर्णित है।

इस भौतिक परिवर्तन की पृष्टभूमि परखने पर स्पष्ट होता है की कुरु-पंचाल क्षेत्र में प्रचलित वैदिक संस्कृति के अनेक तत्व अर्थहीन हो गए थे क्योंकि वे सामाजिक विकास में बाधक हो रहे थे। इसी प्रकार पूर्वोत्तर भारत का प्राचीन जनजातीय जीवन नए सामाजिक तथा आर्थिक ढांचे के लिए उपयोगी नहीं रह गया था। किंतु पश्चिमी गंगा घाटी में पल्लिवित वैदिक संस्कृति

अत्यधिक संगठित होने के कारण उसकी जड़े अधिक मजबूत थी। वैदिक संस्कृति के अनेक तत्व पूर्व में पहुँच चुके थे, जैसे जाति-व्यवस्था, यज्ञवाद, पुरोहितों की महत्ता संबंधी धारणा तथा वेदवाद। उत्तर-पूर्व भारत में धार्मिक आंदोलन ने इन्ही तत्वों को अपना प्रहार बिन्दु बनाया।

इस प्रकार उत्तर वैदिक कालीन सामाजिक-सांस्कृतिक और धार्मिक व्यवस्था में परिवर्तन लाने का सर्वप्रथम प्रभाव धार्मिक आन्दोलनों का रहा है। इससे समाज और धर्म में अनेक परिवर्तन हुए। आर्थिक व्यवस्था भी और अधिक सुविकसित हुई।